3. दलित विमर्श: प्रासंगिकता कल आज और कल

डॉ0 आभा रानी

जब हम दलित शब्द का इस्तेमाल करते हैं तो सहज ही हमारे सम्मुख एक ऐसे दीन हीन, लाचार, शोषित, कृषकाय वर्ग की छवि उभरती है जो हमारे समाज में सबसे निचली सीढ़ी पर खड़ा हुआ संघर्षरत वर्ग है। समाज में किसी संभ्रांत व्यक्ति को यदि हम मजाक में भी दलित कह देंगे तो उसे वह बात गोली की तरह लगेगी।

सामान्य तौर पर हम दलित का अर्थ शूद्र वर्ण वाले व्यक्ति समाज के तौर पर लेते हैं। किन्तु आज इस दलित–विमर्श पर विचार व्यक्त करते हुए मुझे घोर आश्चर्य हो रहा है कि इस भूमंडलीकरण के दौर में जहाँ हर व्यक्ति उपभोक्ता मात्र है और सकल विश्व बाजार के रूप में देखा जा रहा है वहाँ दलित–विमर्श की आखिर आवश्यकता क्यों **महसूस** की गयी? इसका सीधा सा उत्तर मेरी समझ में आया कि आज हम भले अपने आपको इक्कसवीं शताब्दी का कहें किन्तु हमारी मानसिकता (खासतौर पर भारतीयों की) आज भी 18वीं शती की ही है। हम अपने स्वार्थ के कारण अपने को आधुनिक मान रहे हैं। वस्तुतः आज भी हम मनु स्मति के विचारों को हृदय से स्वीकार किए हुए हैं।

यदि हम अपने प्राचीन देव ग्रंथ 'ऋग्वेद' आदि के वास्तविक अध्येता होते तो शायद आज इस दलित विमर्श की आवश्यकता ही न होती। वर्णाश्रम व्यवस्था से पूर्व हिन्दुओं का सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद है। इस ग्रंथ में हमें वर्ण शब्द का प्रयोग चारों वर्णों के अर्थ में प्रयुक्त न होकर रंग के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। आर्यों का रंग गोरा था और अनार्य, दस्यु दास्यों का कृष्ण। इसी रंग भेद को प्रकट करने के लिए उस काल में वर्ण शब्द का प्रयोग किया जाता था ' **यो दासं वर्णमध गुहाक**' से इसी की पुष्टि होती है। इस काल में चतुवर्ण व्यवस्था नहीं बनी थी। लोगों को अपने व्यवसाय परिवर्तन की पूरी सुविधा थी। उस समय लोगों को अपने व्यवसाय परिवर्तन की पूरी सुविधा थी। उस समय लोग अपने व्यवसाय के आधार पर उत्कृष्ट नहीं समझे जाते थे, क्योंकि एक ही व्यक्ति अनेक व्यवसाय कर सकता था या एक ही परिवार के सदस्य विभिन्न कार्य कर सकते थे।

ऋृग्वेद में अपने व्यवसाय से ऊबा हुआ व्यक्ति नये व्यवसाय की कामना करते हुए इन्द्र से पूछता है—

कुविन्मा गोपां करसे जनस्य द्राजानं मन्धवन्नृजीषिन्।

कुविन्म ऋषि पपिवांस सुतस्य कुविन्मे वस्वो अमतस्य शिक्षा।।

अर्थात् क्या तुम मुझको लोगों का गोप बनाओगे, क्या राजा बनाओगे, या समोपपायी ऋषि बनाओगे अथवा असीम धन प्रदान करोंगे।

दलित विमर्श से पूर्व उसकी जड़ तक जाना आवश्यक है—

वर्ण व्यवस्था का जन्म :— वर्ण व्यवस्था की परिकल्पना में वस्तुतः ऋग्वेद के **'पुरूष सूक्त'** का निम्नलिखित मंत्र है—

ब्राह्मणोंऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्य कृतः।

उक्त तहस्य वद् वैश्यः पद्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।।

इस मंत्र में विराट पुरूष का वर्णन है जिसमें कहा गया है कि ब्राह्मण विराट पुरूष का मुख है, क्षत्रिय बाहु, वैश्य जंधा और शूद्र चरण। इस प्रकार समाज को भी एक पुरूष रूप में कल्पित कर चार भागों में इसी आधार पर विभाजित कर दिया गया है। वैदिक युग के तृतीय काल में इस संविधान का निर्माण हुआ।

प्रारम्भ में वर्ण व्यवस्था रूढ़िमूलक नहीं थी। उस युग में जीविका के प्रमुख साधन मंत्रों की रचना कर यजमानों के लिए यज्ञ करना, पशुपालन एवं कृषि और शिल्प थे। प्रायः लोग इन्हीं व्यवसाय में लगे हुए थे। कुछ समय पश्चात जब वर्ण व्यवस्था अधिक दृढ़ हुई तो वह कर्मानुसार बनी। मंत्र रचना करने वाला ब्राह्मण, शस्त्र धारण कर प्रजा की रक्षा करने वाला क्षत्रिय, पशुपालन एवं कृषि करने वाला वैश्य बना और उपयोगी तथा ललित कलाओं का चयन करने वाला शूद्र हुआ।

मनुस्मृति काल में कट्टरता —धीरे—धीरे वर्ण व्यवस्था के कट्टरता आने लगी और सुविधा प्राप्त वर्ग ने अपनी सुविधाओं की रक्षा के लिए ऐसे नियम बना दिए कि वे आजन्म सेवा करने वाले शूद्रों से सेवा लेते रहें। उन्होंनें कर्म के स्थान पर जन्म को प्रमुखता दे दी। उनके अनुसार जो व्यक्ति जिस वर्ण में उत्पन्न हो गया, वह दूसरे वर्ण में सम्मिलित नहीं हो सकता। उन्होंने विभिन्न वर्णों एवं जातियों के कर्त्तव्य निश्चित कर दिए। चारों वर्णों में

ब्राह्मण को श्रेष्ठ माना गया। विराट पुरूष वाले मंत्र में उसकी उपमा मुख से दी गयी। मुख जो ज्ञान प्रधान होता है अतः ब्राह्मण का कर्त्तव्य था कि वह विद्या द्वारा सबकी सेवा करे। क्षत्रिय का प्रमुख कर्त्तव्य राज्य और प्रज्ञा की रक्षा करना था। राष्ट्र की समृद्धि का दायित्व उसका ही होता था। चौथा और अंतिम वर्ण शूद्र था। यद्यपि शूद्रों का स्थान उक्त तीनों वर्णों से निम्न था तब भी उनका महत्व कम न था। उनका काम सबकी सेवा करना था। ऐसी व्यवस्था उस समय इसलिए करनी पड़ी ताकि सामाजिक आराजकता का प्रसार न हो सके और व्यवस्थित रहे।

<u>जाति व्यवस्था का विकास</u>— जाति व्यवस्था का पूर्ण विकास स्मृति युग में हुआ। उस समय वर्णों का आधार कर्मगत न होकर जन्म गत हो गया था। जो जिस वर्ण में पैदा हुआ आजीवन वह उसी वर्ण में का माना गया और उस वर्ण में वंशानुगात यह परम्परा कायम रही। जाति और वर्ग दोनों शब्द पृथक — पृथक हैं और दोनों के अर्थ भी भिन्न हैं। वर्ण का एक अर्थ रंग और दूसरा चुनना या चयन करना है। जबकि जाति शब्द जन से बना है जिसका अर्थ जन्म लेना है, इसी से जाति का जन्म से संबंध हैं जाति जन्मसिद्ध होती है और वर्ण कर्म पर आधारित। जाति व्यवस्था में ऊँच—नीच एवं आस्पृश्यता की अधिकता रहती है। वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था थी, जाति व्यवस्था का उद्‌भव मनु काल में हुआ उसके बाद तो फिर जातियों और उप जातियों का युग आया। आर्य या हिन्दु जाति सहस्त्रों उपजातियों में बंटती चली गयी गयी और ऊँच—नीच की खाई भी बढ़ती चली गयी वास्तविकता में जाति व्यवस्था के बीज वैदिक युग में ही पनप चुके थे। कर्मानुसार वर्णव्यवस्था का नियम बन जाने पर तत्कालीन समाज का संगठन तो हो गया था, परन्तु नित्य नए व्यवसायों का उद्‌भव हो जाने से उनके वर्णानुसार गणना में कठिनाई होने लगी थी। इस प्रकार कर्मो के अनुसार असंख्य वर्णो का विकास हुआ। परिवार में एक व्यवसाय होने पर संतति भी उसे करने लगती थी। अतः व्यवसाय अनुवांशिक होने लगा। इसी अनुवांशिकता ने जातिप्रथा को जन्म दिया जो वर्ग जिस कर्म को करता था उस वर्ग को उसी जाति का समझा जाने लगा। विभिन्न वस्तुओं का व्यापार करने वालों को पद और प्रतिष्ठा मिल रही थी। दूध बेचने वाला—शराब बेचने वाले के बराबर कैसे हो सकता था। शूद्रों को सार्वजनिक उपभोग की वस्तुओं का निर्माण करना पड़ता था, अतः उसके भेद अत्यधिक हुए।

ऋग्वेद में वप्ता (नाई) तष्टार (बढ़ाई) भिषक (वेद्य) कमरि (लोहार) चर्मल (चमार) का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय संहिता में कुलाल (कुम्हार) पुजिष्ट (व्याध), निषाढ (नाव चलाने वाला) इषुकृत (बाण बनाने वाला), धन्वकृत (घनुष बनानें वाला) आदि भिन्न व्यवसायों के नाम मिलते हैं। अतएव व्यवसायों की अनुवांशिकता ने वर्णों का संबंध भी जन्म से जोड़कर जातियों को जन्म दे दिया।

प्राचीन काल में धर्म या वर्ण परिवर्तन कर लेना आसान कार्य था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यदि कोई देवता राक्षसी भाषा का प्रयोग करने लगता था या अशुद्ध बोलने लगता था तो वह म्लेच्छ या असुर हो जाता था। यज्ञ करने वाला किसी वर्ण का हो ब्राह्मण बन जाता था। संस्कार विहीन लोग समाज से बहिष्कृत कर दिए जाते थे वे व्रात्य कहलाते थे। महाभारत के अनुसार सर्वप्रथम ब्राह्मणों का उद्भव हुआ, अन्य वर्णों की उत्पत्ति ब्राह्मणों से हुई। इस प्रकार मूल रूप से सभी ब्राह्मण हैं। महाभारत में यह भी आता है कि जो ब्राह्मण अपने धर्म का पालन नहीं करता तो वह ब्राह्मण नहीं रहता और अगर शूद्र में वो गुन आ जाते हैं तो वह शूद्र नहीं रहता—

शूद्रे चैतद् भवेक्ष्यं द्विजे चैतन्न विद्यते।

न वै शूद्रों भवेत् शूद्रों (भवेच्छूद्रो) ब्राह्मणों न च।।

(महाभारत)

वर्णव्यवस्था ने आर्यों के सामाजिक जीवन को संन्तुलित रखा। सभी वर्ण एक दूसरे के सहयोगी बन कर मानव जीवन के विकास के लिए कार्य करते रहे, उनमें परस्पर संघर्ष का अभाव रहा। किन्तु जब इस व्यवस्था में कठोरता आयी और ब्राह्मणों ने अपने को श्रेष्ठ सिद्ध कर सदैव के लिए सत्ता को अपने पास रखने का यत्न किया तो उपनिषद् काल और उसके बाद क्षत्रियों से उनका संघर्ष हुआ। इसी संघर्ष काल में अनेक क्षत्रिय राजा ब्राह्मण घोषित, हुए, जैन और बौद्ध धर्म का उदय इसी संघर्ष की देन है। वैश्यों ने भी ऊँचा, उठने का यत्न किया। इसी कारण स्मृति काल में बड़ी दृढ़ता से वर्णों के कर्त्तव्यों का उल्लेख कर उन्हें पालन करना धर्म बता दिया गया। शूद्रों के पास संघर्ष के लिए कोई साधन न था, वे कोई उग्र विरोध न कर सके। विद्या का अभाव और साधन हीनता के कारण उन्हें सेवा भाव के चक्र में विवश होकर पिसना पड़ा, किन्तु जब उन्हें बौद्ध धर्म में त्राण दिखा तो बहुत बड़ी संख्या में उनके अनुगामी हो गए। क्योंकि गौतम बुद्ध ने कहा था —

''जाति मत पूछ, तू तो बस एक आचरण पूछ, नीच कुल का मनुष्य भी धृतिमान, सुविज्ञ और निष्पाप मुनि होता है''

(गौतम बुद्ध)

जाति व्यवस्था एक सामाजिक अभिषाप :– जन्मगत जाति व्यवस्था ने हिन्दु समाज के अन्दर ऊँच नीच, छुआछूत का जो जहर घोला उसने समाज को अधमरा कर दिया। उच्च वर्ण के लोगों ने दलित कही जाने वाली जातियों के साथ जो अमानवीय व्यवहार रखा उसका परिणाम अन्ततः सामने आया और इस्लाम धर्म ने भारत में प्रवेश किया तो उसकी समता और बंधुता सिद्धान्त ने करोड़ों शोषित जनों को मुक्ति का मार्ग भी दखाया। इस जाति प्रथा ने हमारे समाज को सहस्त्रों जातियों एवं उपजातियों में विभाजित कर खण्डित–खण्डित कर दिया। अंग्रेजों की दासता भी इस विखण्डन की ही परिणति थी।

आधुनिक युग ने जाति प्रथा के बंधनों को ढीला कर एक नए युग का श्री गणेश किया है। जाति प्रथा के सारे अभिशाप हमारे संविधान ने ध्वस्त कर दिए है। आज प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी भेदभाव के आपनी उन्नति करने का समान अवसर प्राप्त है। जाति प्रथा का एक बंधन सजातीय विवाह था। इस बंधन के पाश भी अब ढ़ीले हो रहे है। अन्तर्जातीय विवाहों का समारम्भ हो चुका है। खान–पान के प्रतिबंध तो कब के ढ़ीले हो चुके हैं। ब्राह्मण या शूद्र अपने शास्त्रोक्त व्यवसाय को छोड़कर अन्य व्यवसाय करने लगे हैं। व्यवसायों की आनुवांशिकता समाप्त हो चुकी है। अब अध्ययन–अध्यापन, यजन, याजन पर ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं रह गया है। छुआछूत तो अनपढ़ और गांवों तक ही कहीं कहीं रह गया है। इस प्रकार हमारा आज का समाज यद्यपि पुरातन ढांचे को पूरी तरह तोड़ नहीं पाया है परन्तु उसने उस भवन की चूलें अवश्य हिला कर रख दी हैं।

आज हम जिस दलित की बात कर रहे हैं वो समाज के सबसे निचले तबके से सरोकार रखता है। यह दलित भी जातिवाद की ही देन है। यह समाज युगों–युगों से अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ता आ रहा है और आज भी निरन्तर संघर्ष कर रहा है। समाज का उच्च वर्ग उनकी काबिलियत को जानते बूझते हुए भी नजरंदाज कर रहा हैं और उनकी प्रगति के मार्ग में जानबूझ कर रोड़े अटका रहा हैं। फिर भी इस वर्ग के जुझारू व्यक्ति सब कठिनाईयों का जम कर मुकावला करते हुए आगे बढ़ रहे हैं। इनके मार्ग में पग–पग पर कांटे बिछाए जाते जाते हैं, किन्तू निडर ये आगे बढ़ते जा रहे हैं। आज भी दलित शूद्र वर्ण से ही आते हैं कोई ब्राह्मण या अन्य उच्च वर्ग अपने को दलित कहलाना, उनसे विवाह आदि संबंध बनाना अधिकांशतः पसंद नहीं करता है। केवल बातों तक ही इनकी समानता सीमित है, व्यावहारिकता में जमीन–आसमान का अन्तर है। अगर कोई विवाह आदि संबंध उच्च और निम्न वर्ग में बन भी जाता है तो उसमें भी कहीं न कहीं कोई मोटा स्वार्थ निहित होता है।

आज की सरकारें, राजनेता सभी इनको छल रहे हैं। दुर्भाग्य तो यह है कि अगर इनके वर्ग का कोई व्यक्ति सत्तासीन होता है तो सबसे पहले इनकी प्रगति की बात

न सोच कर केवल अपने उत्थान में लग जाता है। झारखण्ड की सरकारें इसका जीता—जागता नमूना है। झारखण्ड का गठन ही आदिवासियों के हितों की रक्षा के लिए किया गया था, किन्तु यहाँ के नेताओं ने इनकी उन्नति पर जैसा ध्यान देना चाहिये था, वैसा न देकर अपने हितों की साधना में लग गए। इनकी सरकार होते हुए भी इन लोगों के हितों की रक्षा आज तक नहीं हो पायी है। केवल बयान बाजी से काम चला कर इन भाले—भाले लोगों को गुमराह करने का काम सरकारें अब तक करती आयी हैं।

सच्चे मायनों में अगर देखा जाय तो दलितों को राह के रोड़ों को दरकिनार करते हुए स्वयं राजमार्ग बनाना होगा। आज भी ऐसे जुझारू दलित नेता, व्यक्ति समाज में हैं जिन्होंने इनका मार्ग प्रशस्त किया। इन जुझरू व्यक्तियों ने ही इनके अन्दर की हीन भावना को निकाल कर बाहर फेंका और उन्हें समाज का अभिन्न अंग होने का एहसास कराया। इन्हें एक नयी दिशा और रौशनी दी। उन्हें बताया कि तुम भी योग्य हो, काबिल हो, शक्तिवान हो। उनकी अपने आप से पहचान करवायी। इसी का प्रतिफल है कि वर्तमान समय में छूआछूत, ऊँच—नीच की भावना समाज से लुप्तप्राय हो गयी है। जो लोग छुआछूत या जातिगत भेद भाव करते भी है तो वे अपने छोटे—छोटे स्वार्थों की रक्षा के लिए ऐसा करने को मजबूर है एवं स्वार्थों की सिद्धि के लिए उसे अपना हथियार समझ इस्तेमाल करते हैं। परन्तु इस विभेद को उनकी अन्तरआत्मा भी जानती है कि **—''अवल अल्ला नूर हो पाया कुदरत के सब बंदे, एक नूर से सब जग उपजया कौन भले कौन मंदे।''**

आने वाला कल दलित उत्कर्ष का काल है। क्योंकि वह भी अब अपनी शक्तियों को पहचान चुका है। भले ही 50—60 सालों में हम जातिगत सोच से अपने को मुक्त नहीं कर पाएँ हैं, किन्तु प्रयास तो निरन्तर जारी है। आज के व्यवहार में हम जो परिवर्तन पाते हैं, जो इसी सोच का ही परिणाम है। आज हम कम से कम इतना तो अवश्य समझते हैं कि समस्त जीव—जन्तुओं का निर्माता एक ही है। हम सब उसी की संताने हैं। दलित समाज हमारे उस कमजोर बच्चे की तरह है जिसे परिवार में सबसे अधिक देखभाल की जरूरत है। जो स्वस्थ होकर समाज में अपनी महत्वपूर्ण सेवाएं प्रदान कर सकता है। जिस प्रकार परिवार में किसी को छोड़ा नहीं जा सकता, सबको साथ लेकर चला जाता है। उसी तरह वे भी हमारा ही एक अंश है। इसी सोच का ही नतीजा है आज का दलित—दलित नहीं है, केवल आर्थिक विवशता उसके मार्ग की बाधा है। वरंच आज उसने सभी क्षेत्रों में चाहे वह राजनीति हो अध्ययन अध्यापन हो, शिक्षा का क्षेत्र हो सभी में अग्रणी भूमिका निभा रहा है। सबसे ज्यादा क्रांति इसी वर्ग में देखने को मिल रही है, जो एक शुभ संकेत है, राष्ट्र एवं समाज की उन्नति का, आनेवाले कल में केवल हम मानवता की बात करेंगे, न कि दलित विमर्श की।